



ISSN Print: 2394-7500
ISSN Online: 2394-5869
Impact Factor: 8.4
IJAR 2021; 7(2): 139-141
www.allresearchjournal.com
Received: 17-12-2020
Accepted: 02-01-2021

अमर नाथ

प्रो0, प्लॉट नं 95, लमही, मुंशी
प्रेमचन्द रोड, शिवपुर, वाराणसी,
उत्तर प्रदेश, भारत

पञ्चकर्म चिकित्सा के मूलभूत सिद्धान्त

अमर नाथ

सारांश

रोगोत्पत्ति वृद्धिगत दोषों से होना सर्व स्वीकार तथ्य है। इसी स्थापित तथ्य के कारण ही वाग्भट ने श्रोगस्तुदोष वैषम्यम् कह कर संक्षेप में रोगों को परिभाषित किया है। किन्तु यदि सम्यक् विचार करें तो वृद्ध दोष-संचित, प्रकृपित होकर जब विभिन्न स्रोतसों में परिभ्रमण करते हुए किसी स्रोतस् में स्थान संश्रयित होकर श्दोष-दूष्य-सम्पूर्णना एवं स्रोतोदुष्टि कर रोगोत्पत्ति करता है, तभी रोग की संज्ञा प्राप्त होती है। पञ्चकर्म चिकित्सा मुख्यतः दोषपरक है। वृद्धदोष को साम्यावस्था में लाने के दो उपाय संभव हैं।

1. दोष संशमन
2. दोष निर्हरण।

दोष निर्हरण की उत्कृष्टता इस कारण से है कि इससे रोगोत्पत्ति के मूल कारण दोषों का मूलच्छेदन हो जाता है। जिससे रोग प्रतिकार अपुनर्भव प्रकार का होता है। यही भाव पञ्चकर्म का मुख्य लक्ष्य है। इसके अतिरिक्त पञ्चकर्म, धातुपोषण, अग्निव्यापार, स्रोतस् आदि पर प्रभाव डालकर कालजन्य दोष संचयादिक अवस्थाओं में तथा षटक्रिया काल की प्रारम्भिक अवस्थाओं में समुचित रूप से करने से रोगप्रतिषेध (स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम्) भी करते हैं।

प्रस्तावना:

पञ्चकर्म के अन्तर्गत पूर्वकर्म, प्रधानकर्म, तथा पश्चात्कर्म, में से प्रत्येक कर्म की कार्मुकता के पीछे सन्निहित मूलभूत सिद्धान्तों का सम्यक् ज्ञान एवं विवेचना भी पञ्चकर्म प्रयोग से पूर्व आवश्यक शर्त है। जिन्हें रोग संप्राप्ति एवं विघटन के आधार पर शास्त्र वर्णन के अनुसार स्थापित किया जा सकता है। प्रस्तुत शोधपत्र इसी तथ्य के विवेचनात्मक प्रस्तुतिकरण का एक विनम्र एवं लघु प्रयास है।

साहित्य समीक्षा (Review of Literature)-Main Thrust

पञ्चकर्म चिकित्सा के मूलभूत सिद्धान्त

(Fundamentals of Panchakarma Therapy)

काय चिकित्सा अष्टांग आयुर्वेद में प्रधान अंग है। कायचिकित्सा के प्रधान ग्रन्थ चरक संहिता में आयुर्वेद के दो प्रयोजन उपदिष्ट हैं।

स्वस्थस्य स्वास्थ्य रक्षणम् आतुरस्य विकार प्रशमनंच।
इन प्रयोजनों की पूर्ति के तीन महत्वपूर्ण उपाय हैं।

1. संशोधन
2. शमन
3. निदान परिवर्जन

इन त्रिविध उपायों में संशोधन को उत्कृष्ट उपाय इसलिए कहा गया है कि क्यों कि संशोधन के द्वारा शुद्ध किये गये दोषों के पुनः प्रकृपित होने की संभावना नहीं रहती है। संशोधन के अन्तर्गत पञ्चकर्म की प्रक्रिया ग्रहित है एवं सर्वश्वीकृत है। पञ्चकर्म केवल काय चिकित्सा का ही एक उपकरण नहीं हैं, वरन् आठो अंगों में प्रयोग होता है तथा उपयोगी है। उपयुर्वत द्विविध प्रयाजनों की पूर्ति हेतु पञ्चकर्म निम्न प्रकार से उपयोगी प्रत्यक्ष गम्य होता हैं।

पञ्चकर्म उपयोग

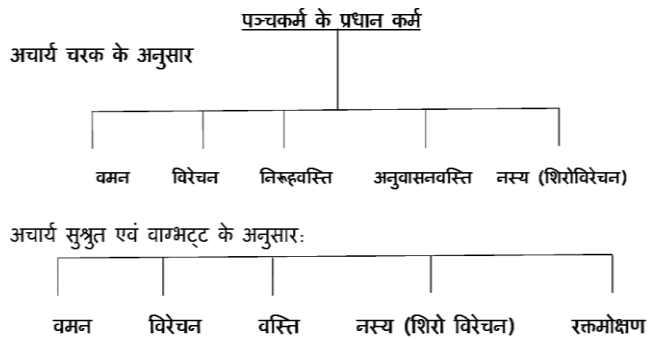
1. शरीर का शोधन-शरीर के मलीनकारी एवं विजातीय द्रव्यों के निष्कासन हेतु।

Corresponding Author:

अमर नाथ

प्रो0, प्लॉट नं 95, लमही, मुंशी
प्रेमचन्द रोड, शिवपुर, वाराणसी,
उत्तर प्रदेश, भारत

2. रोगहेतु का निर्मूलन—रोगोत्पादक मूल, दोषो का निष्कासन
3. दैनन्दिक नित्यकर्म में—स्नेहन, शिरस्तैल, पादाभ्यांग, कर्णतेल मात्रावस्ति आदि के रूप में।
4. ऋतु चर्या में—कालज दोष वृद्धि के साम्यार्थ वात का संशोधन श्रावण मास में पित्त का संशोधन कार्तिक मास में तथा कफ का संशोधन चैत्र मास में।
5. धारणीय वेग प्रवर्तन में—मल, मुत्र, अपानवायु आदि के सम्यक् प्रवर्तन हेतु पंचकर्म।
6. विष प्रतिकार में—विषलक्षण की अवस्था में सद्यः वमन या विरेचन का विधान।
7. रसायन एवं वाजीकरण सेवन) में—रसायन एवं वाजीकर द्रव्यों की समुचित कामुकता शरीर के प्राप्त होने हेतु शरीर शोधन आवश्यक है— इस रूप में पञ्चकर्म।
8. जनपदो ध्वंस में—जब वायु, उदक, देश, काल आदि और अधर्म के कारण प्रदूषित हो जाते हैं। तो सामान्य जनों को निरांग बनाने के लिए यथायोग्य पञ्चकर्म।
9. रोग के संशोधन उपचार में—रोगानुसार अर्थात् दोष, दुष्य, सोतस् पर विचार कर यथायोग्य पञ्चकर्म जिससे अपुनर्भव प्रकार की चिकित्सा है।
10. कायचिकित्सा के अतिरिक्त अन्य अंगों में—अन्य अंगों में भी पञ्चकर्म प्रयोज्य है। यथा धात्री स्तन्य विकारों में बालग्रह चिकित्सा में शल्य तन्त्र के 60 उपक्रमों में विष चिकित्सा में पञ्चकर्म के अन्तर्गत 5 प्रधानकर्म प्रायशः शोधन उपायों को रूप में वर्णित है। यद्यपि इनमें से एक अनुवासन वस्ति वृहण कर्म भी करता है।



वमनं रेचम् नस्यं निरूहश्चानुवासनम् ।

एतानि पञ्चकर्माणि कथितानी मुनीश्वरैः ॥ शा० 30 8/70

पञ्चधाशोधनमचतत्—निरूहो वमनं काय शिरोरेकोऽत्र विमु तिः ।

अ०ह०पू० 14

उपयुक्त प्रधान पंचकर्मों की कार्मुकता एवं उनके पीछे अन्तर्निहित शोधन का मौलिक सिद्धान्त का ज्ञान पंचकर्मों के क्रिया व्यवहार में लाने से पूर्व अत्यन्त अभीष्ट होगा। उपर्युक्त कर्मों में अन्तर्निहितमूलभूत सिद्धान्त निम्नवत हैं।

1. वमन

दोषों का सन्निकृष्ट मार्ग से निर्हरणकरने का सिद्धान्त सर्वविदित है। सर्व प्रमुख स्थान अमाशय है अतः उर्ध्व मार्गहर संशोधक वमन कर्म के द्वारा अमाशय में स्थित कफ दोष का निर्हरण हो जाता है एवं वमन रोगों की सम्भावना समाप्त हो जाती है। वामक द्रव्यों यथा वमनफल, वचा, कटु तुम्बी इत्यादि में प्रायः उष्ण, तीक्ष्ण, मूक्ष्म, व्यवायी, विकासी तथा उर्ध्व प्र वर्ति कारक गुण होते हैं। ये प्रायः अग्नि—वायु भुयिष्ट होते हैं। द्रव्यों के इन गुणों के कारण ही दोषों का विष्यंदन, पाक, स्राव, सुक्ष्म मार्गों में प्रवेश, धातुओं से पृथक्कीकरण तथा अमाशय में उर्ध्वगमन होकर उर्ध्व भाग से संशोधन होता है।

2. विरेचन

दोषों को अधो मार्ग से निष्कासित कर देना विरेचन कहलाता है। विरेचन पित्त प्रधान दोषों के लिए अथवा कफ संश्लिष्ट संशोधन के पित्त स्थान शोधन के लिए सर्वोत्कृष्ट उपक्रम है। कोष्ठस्थ पित्त के संशोधन से अन्य स्थान स्थित पित्त भी सिमित हो जाता है क्योंकि आयुर्वेद का सिद्धांत है कि कोष्ठस्थ पित्त अपने अग्नि-कर्म के द्वारा अन्य स्थानस्थ पित्त की क्षय, वृद्धि अथवा अनुग्रह करता है। विरेचन में प्रयुक्त द्रव्य तथा हरीतकी, अमलताश, कुटकी आदि प्रायः उष्ण, तीक्ष्ण, सुक्ष्म, व्यवायी, विकासी एवं प्रथ्वी—जल भूमिष्ठ तथा अधोभागहर गुण होते हैं। जिनके कारण विष्यन्दनपाक आदि करते हुए अधोमार्ग से दोष निष्कासन होता है। दोषों के अतिरिक्त मल संशोधन भी विरेचन का एक कार्य है।

3. वस्ति

सामान्यतः वास्ति कर्म उस उपक्रम को कहते हैं जिसमें औषधियों के क्वाथ, तैल, दुग्ध, मांसरस, रक्त, आदि पदार्थों को वस्ति यन्त्र में भरकर गुद द्वार में वस्ति नेत्र प्रवेश कराकर उपर्युक्त पदार्थों को पक्वाशय में प्रवेश कराया जाता है। गुद मार्ग के अतिरिक्त मुत्रमार्ग एवं योनिमार्ग में भी वस्ति की जाती है जिसे उत्तर वस्ति कहते हैं। जिस प्रकार वात समस्त दोषों में महान एवं बलवान है उसी प्रकार वस्ति कर्म को अन्य सभी पंचकर्मों से श्रेष्ठ एवं प्रधान कहा गया है। यद्यपि वस्ति कर्म प्रधानतः वात का संशोधन उपक्रम है, पक्वाशय का संशोधक है परन्तु इसका प्रभाव सार्वदैहिक भी होता है, समस्त रोगों में अधिकांश वात जनक रोग होने के कारण वात संशोधन वस्तिकों को चिकित्सार्थ भी कहते हैं। द्रव्यभेद से वस्तियां प्रायः

दो प्रकार की हैरू—

1. निरूह वस्ति
2. अनुवासन वस्ति

निरूह वास्ति अथवा अस्थापन वास्ति के निर्माण में द्रव्यों के क्वाथ की प्रधानता होती है एवं यह शरीर दोषों की संशोधन उपक्रम है। जबकि अनुवासनवस्तियाँ स्नेह की प्रधानता रहती है एवं इसे बिना किसी विकार के प्रतिदिन किया जा सकता है। निरूहवस्ति में प्रयुक्त औषधि द्रव्यों का चयन के समय उनकी वात प्रतिकारी गुण एवं व्याधि शामक गुणों को ध्यान में रखना आवश्यक होता है। वस्ति प्रयोग से पूर्व वस्ति यंत्र प्रमाण, औषधि द्रव्यों की परीक्षा, काल समीक्षा, रोगी की दशविध परीक्षा वस्ति के सम्यक् योग, हीन योग, अतियोग एवं वस्ति व्यापदों का ज्ञान रखना प्रथम आवश्यकता होती है।

4. नस्य कर्म

जो औषधि द्रव्य नासिका के रन्ध्रों में सुघाया या टपकाया जाता है उसे नस्य या शिरोविरेचन कहते हैं। नामिका शिर का द्वार कहा गया है अतः उर्ध्व जत्रुगत रोगों में यह अत्यन्त उपयोगी है। शिर उत्तमांग है, त्रिमर्मा में से एक है, प्राणायतन है, अतः इस अंग का शोधक उपकरण नस्य कर्म का महत्व एवं उपयोगिता स्वयं सिद्ध है। सिन्धु नस्य उर्ध्वजत्रुगतस्थान का तर्पण, शमन, संज्ञाप्रबोधन आदि कार्य करता है तथा तीक्ष्णनस्य कफादिक दोषों का संशोधन करता है। अचार्य चरक ने पाँच प्रकार के नस्यों जैसे—1—नावन, 2—अवपीड़न 3—द्विमापन, 4—धूम्र, 5—प्रतिमर्श का उल्लेख किया है।

5. रक्तमोक्षण

रक्त को प्राणी का साक्षात् जीवन कहा गया है तथा जीवन रक्त की समस्थिति पर निर्भर है। इस प्रकार में महत्वपूर्ण अवयव रक्त के दुष्ट हो जाने से अनेकानेक गम्भीर धातक व्याधियों की उत्पत्ति हो जाती है। जैसे— कुष्ठ, रक्तपित्तादि। अतः दुष्ट रक्त

के निर्हरणार्थ रक्तमोक्षण उपक्रम को आचार्य सुश्रुत एवं वाग्भट ने पंचकर्म में समावेश किया है।

पञ्चकर्म के प्रधान कर्मों से पूर्व कर्मों का सम्पादित करना भी आवश्यक है इसीलिए पंचकर्म में इसे निश्चित रूप में समावेश किया गया है। पञ्चकर्म में दो मुख्यपूर्व कर्म हैं 1. स्नेहन, 2. स्वेदन।

1. स्नेहन

पंचकर्म में पूर्व रूप के अवस्था में स्नेहन स्थानिक अथवा सार्वदैहिक रूप में किया जा सकता है। स्नेह द्रव्य प्रायः द्रव, सूक्ष्म, सर, स्निग्ध, पिच्छित्त, गुरु, शीत और मृदु गुण युक्त होते हैं, यदि दोष कोष्ठ से बाहर अन्य स्रोतों में स्थित है तो स्निग्ध द्रव्य उपयुक्त गुणों के द्वारा उन्हें स्निग्ध करके उनका विलयन कर विलिप्त एवं उक्लिष्ट करते हैं। जो दोषों के शाखाओं से कोष्ठ में जाने की प्राथमिक शर्त होती है। आचार्य चरक ने चतुर्विधि स्नेहयोनिया-धृत, तैल, वसा, मज्जा एवं 24 स्नेह प्रतिचारणाएँ वर्णित किये हैं।

2. स्वेदन

स्वेदन उस प्रक्रिया का नाम है जिससे शरीर में स्वेदन प्रवर्तित करायी जाती है, स्वेदन साग्नि एवं निराग्नि प्रकार का होता है। स्वेदन द्रव्य प्रायः उष्ण, तीक्ष्ण, सर, स्निग्ध अथवा रूक्ष, सुक्ष्म, द्रव गुण युक्त होते हैं। स्वेदन दोषों का पाक, स्रवण, अनुलोमन, विष्यन्दन, क्ले दन करते हुए उन्हें कोष्ठाभिमुख करता है अर्थात् शाखागत दोषों को कोष्ठ में प्रवर्तित कराने में महत्वपूर्ण है जिससे पंचकर्म के प्रधानकों द्वारा कोष्ठ से दोषापनयन सम्भव है।

पश्चात् कर्म (संसर्जन-क्रम)

संशोधन अर्थात् पंचकर्म के प्रधान कर्म के उपरान्त व्यक्ति के शरीर में कुछ क्षोभ हो जाता है एवं अग्नि भी भोजन का सम्यक् पाक करने में सद्यः समर्थ नहीं रहती है अतः जिस प्रकार मंद अग्नि को तीव्र करने के लिए छोटे छोटे तिनको ईंधन डालकर तीव्र किया जाता है उसी प्रकार पञ्चकर्म में प्रधान कर्म के पश्चात् क्रमशः लघुतम से लघुतर फिर लघु और फिर सम्यक् आहार सेवन कराने का विधान है। जिससे अग्नि संघुक्षित हो जाय और कोई विकार की उत्पत्ति न हो, इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु संसर्जन कर्म का पञ्चकर्म में आवश्यक समावेश है। संशोधन कर्म में क्रमशः मण्ड, पेया, विलेपी, अकृतयूष, कृतयूष, अकृतमास, कृतमास, प्राकृत आहार देने का विधान है। इस संसर्जन कर्म के पश्चात् ही रसायन, वाजीकरण, द्रव्यों का प्रयोग अथवा शामक चिकित्सा प्रयोग ही उचित होता है।

पश्चात् कर्म

||

संसर्जन-क्रम

क्रमशः उत्तरोत्तर

मण्ड	पेया	विलेपी	अकृतयूष	कृतयूष	अकृतमास	कृतमास	प्राकृत आहार
------	------	--------	---------	--------	---------	--------	--------------

पञ्चकर्म के प्रधानकर्मों परान्त दुर्बल अग्नि का क्रमशः संघुक्षण होकर प्राकृत होना।

रसायन, वाजीकरण अथवा शामक औषधि का प्रयोग।

रोगोत्पत्ति बिनादोष वैषम्य के सम्भव नहीं है। दोष ही रोगोत्पादक मूल कारण है। यदि रोगसम्प्राप्ति एवं षट्क्रिया या काल को देखे तो दोषों का संचय, प्रकोप, प्रसर, के पश्चात् दोष उस स्रोतस् में स्थान संस्रियित होते हैं जहाँ पर ख-वैगुण्य होता है तथा तंत्रस्थ

एवं उस धातु अर्थात् दुष्य को दुषित कर देते हैं, जिसमें बल क्षीण होता है, इस स्थल पर दोष-दुष्य-सम्मूर्च्छना होकर स्रोतों दुष्टि होकर व्याधिउत्पन्न होती है। अतः व्याधि परिमोक्ष के लिए आवश्यक है कि स्रोतों का शोधन कर स्रोतों दुष्टि समाप्त किया जाय, स्रोतों से स्रोतों मलीन कारी भावों का परित्याग किया जाय। दुष्यों से संश्लिष्ट दोषों का पृथक्करण करते हुए उन्हें कोष्ठ में प्रवर्तित कराकर उर्ध्व अथवा अधो मार्ग से निष्कासित किया जाय। जिससे रोग का समूल अपनयन या नाश हो सकें। दुसरे शब्दों में संशोधन चिकित्सा का स्पष्ट उद्देश्य है कि स्रोतों शुद्धि, स्रोतों के मलीन कारी भावों का परित्याग, दोषों का दुष्यों से पृथक्कीकरण, दोषों को शाखा से कोष्ठ की तरफ प्रवर्तित होना तत्पश्चात् कोष्ठ से वहिर्गमन। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के उद्देश्य से ही पूर्व कर्म एवं प्रधान कर्मों की अवधारणा पंचकर्म के अन्तर्गत समाहित है।

निष्कर्ष

निम्न निष्कर्ष निकलता है-

1. स्रोतों शोधन।
2. स्रोतस् से मलिनकारी भावों का त्याग।
3. दोषों का पाककर निरामकरण।
4. दुष्य से दोष का पृथक्कीरण।
5. दोषों का निष्यंदन व क्लीन होकर स्रवण।
6. दोषों का शाखा से कोष्ठ की तरफ गमन।
7. कोष्ठ से दोषों का वहिर्गमन।

सन्दर्भ

1. अष्टांग हृदय
2. चरकसंहिता
3. सुश्रुतसंहिता
4. भेलसंहिता
5. हारीतसंहिता
6. शब्दकल्पद्रुम
7. मेदिनी कोश
8. अष्टांग संग्रह